राष्ट्र का स्वरूप

—डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल

लेखक—परिचय

वासुदेव शरण अग्रवाल का जन्म 7 अगस्त 1904 को ग्राम खेड़ा जिला गाजियाबाद में हुआ तथा देहावसान 26 जुलाई 1966 को हुआ।

डॉ. अग्रवाल कला, संस्कृति, साहित्य व इतिहास के मूर्धन्य विद्वान थे। पुरातत्व में विशेष रूचि से मथुरा, लखनऊ और राष्ट्रीय पुरातत्व संग्रहालय दिल्ली में अपनी विशिष्ट सेवाएँ देते हुए संग्राहक के रूप में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

आप गाँधी जी से विशेष रूप से प्रभावित थे। गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन के दौरान आपने सरकारी विद्यालय छोड़ दिया और खादी—वस्त्र धारण कर लिए।

आपके लेखन में भारतीय इतिहास, संस्कृति व जीवन दर्शन का प्रभावी वर्णन मिलता है।

आपने वेद—पुराण व संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन कर एक परिष्कृत चिन्तन दृष्टि अपने भीतर उत्पन्न की जो आपके लेखन में सर्वत्र विद्यमान है।

इनके द्वारा हिन्दी में लगभग 36 और अंग्रेजी में 23 पुस्तकों की रचनाएँ की गई।

इनकी प्रमुख रचनाओं में — पृथ्वीपुत्र, उरूज्योति, कला और संस्कृति, कल्पवृक्ष, माताभूमि, हर्ष चरित् : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत की मौलिक एकता, मलिक मोहम्मद जायसी, पद्मावत संजीवनी व्याख्या, पाणिनी कालीन भारतवर्ष व भारत सावित्री प्रमुख हैं।

पाठ—परिचय

प्रस्तुत पाठ में लेखक ने तत्वों के आधार पर राष्ट्र के स्वरूप की व्याख्या करते हुए जन के मन में विभिन्न तत्त्वों के सम्मिलन से उसकी उत्कृष्ट राष्ट्र—भावना का परिचय दिया है। भू के प्रति मातृवत् श्रद्धा जन को आदर्श नागरिक बनाती है वहीं संस्कृति तत्त्व उसमें उच्च मूल्यों की प्रतिष्ठा कर उसकी भावात्मक एकता की दृढ़ता का परिचायक है। प्रस्तुत निबन्ध एक गौरवशाली राष्ट्रभाव को जन—जन में प्रसारित करने का स्तुत्य प्रयास है।

****

भूमि, भूमि पर बसने वाला जन और जन की संस्कृति, इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है।

भूमि का निर्माण देवों ने किया है, वह अनन्त काल से है। उसके भौतिक रूप, सौन्दर्य और समृद्धि

के प्रति सचेत होना हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है। भूमि के पार्थिव स्वरूप के प्रति हम जितने अधिक जाग्रत होंगे उतनी ही हमारी राष्ट्रीयता बलवती हो सकेगी। यह पृथ्वी सच्चे अर्थों में समस्त राष्ट्रीय विचारधाराओं की जननी है। जो राष्ट्रीयता पृथ्वी के साथ नहीं जुड़ी व निर्मूल होती है। राष्ट्रीयता की जड़ें पृथ्वी में जितनी गहरी होंगी उतना ही राष्ट्रीय–भावों का अंकुर पल्लवित होगा। इसलिए पृथ्वी के भौतिक स्वरूप की आद्योपान्त जानकारी प्राप्त करना , उसकी सुन्दरता, उपयोगिता और महिमा को पहचानना आवश्यक धर्म है।

इस कर्त्तव्य की पूर्ति सैकड़ों–हजारों प्रकार से होनी चाहिए। पृथ्वी से जिस वस्तु का सम्बन्ध है, चाहे वह छोटी हो या बड़ी, उसके कुशल–प्रश्न पूछने के लिए हमें कमर कसनी चाहिए। पृथ्वी का साँगोपांग अध्ययन जागरणशील राष्ट्र के लिए बहुत ही आनन्दप्रद कर्त्तव्य माना जाता है। गाँवों और नगरों में सैकड़ों केन्द्रों से इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात होना आवश्यक है।

उदाहरण के लिए, पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति को बढ़ाने वाले मेघ जो प्रति वर्ष समय पर आकर अपने अमृत जल से इसे सींचते हैं, हमारे अध्ययन की परिधि के अन्तर्गत आने चाहिए। उन मेघजलों से परिवर्धित प्रत्येक तृण–लता और वनस्पति का सूक्ष्म परिचय प्राप्त करना भी हमारा कर्त्तव्य है।

इस प्रकार जब चारों ओर से हमारे ज्ञान के कपाट खुलेंगे, तब सैकड़ों वर्षों से शून्य और अंधकार से भर हुए जीवन के क्षेत्रों में नया उजाला दिखाई देगा।

धरती माता की कोख में जो अमूल्य निधियाँ भरी हैं जिनके कारण वह वसुन्धरा कहलाती है उससे कौन परिचित न होना चाहेगा ?लाखों–करोड़ों वर्षों से अनेक प्रकार की धातुओं को पृथ्वी के गर्भ में पोषण मिला है। दिन–रात बहने वाली नदियों ने पहाड़ों को पीस–पीस कर अगणित प्रकार की मिट्टियों से पृथ्वी की देह को सजाया है। हमारे भावी अभ्युदय के लिए इन सब की जाँच–पड़ताल अत्यन्त आवश्यक है। पृथ्वी की गोद में जन्म लेने वाले खड़ पत्थर कुशल शिल्पियों से संवारे जाने पर अत्यन्त सौन्दर्य का प्रतीक बन जाते हैं। नाना भाँति के अनगढ़ नग विंध्य की नदियों के प्रवाह में सूर्य की धूप से चिलकते रहते हैं, उन चीलवटों को जब चतुर कारीगर पहलदार कटाव पर लाते हैं तब उनके प्रत्येक घाट से नई शोभा और सुन्दरता फूट पड़ती है, वे अनमोल हो जाते हैं। देश के नर–नारियों के रूप–मण्डन और सौन्दर्य–प्रसाधन में इन छोटे पत्थरों का भी सदा से कितना भाग रहा है , अतएव हमें उनका ज्ञान होना भी आवश्यक है।

पृथ्वी और आकाश के अन्तराल में जो कुछ सामग्री भरी है, पृथ्वी के चारों ओर फैले हुए गम्भीर सागर में जो जलचर एवं रत्नों की राशियाँ हैं, उन सबके प्रति चेतना और स्वागत के नए भाव राष्ट्र में फैलने चाहिए। राष्ट्र के नवयुवकों के हृदय में उन सबके प्रति जिज्ञासा की नई किरणें जब तक नहीं फूटतीं तब तक हम सोए हुए के समान हैं।

विज्ञान और उद्यम दोनों को मिलाकर राष्ट्र के भौतिक स्वरूप का एक नया ठाट खड़ा करना है। यह कार्य प्रसन्नता, उत्साह और अथक परिश्रम के द्वारा नित्य आगे बढ़ाना चाहिए। हमारा यह ध्येय हो कि राष्ट्र में जितने हाथ हैं उनमें से कोई भी इस कार्य में भाग लिए बिना रीता न रहे। तभी मातृभूमि की पुष्कल समृद्धि और समग्र रूप–मण्डन प्राप्त किया जा सकता है।

मातृभूमि पर निवास करने वाले मनुष्य राष्ट्र का दूसरा अंग है । पृथ्वी हो और मनुष्य न हों, तो राष्ट्र

की कल्पना असम्भव है। पृथ्वी और जन दोनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र का स्वरूप सम्पादित होता है। जन के कारण ही पृथ्वी मातृभूमि की संज्ञा प्राप्त करती है। पृथ्वी माता है और जन सच्चे अर्थों में पृथ्वी का पुत्र है –

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

'भूमि माता है, मैं उसका पुत्र हूँ।'

जन के हृदय में सूत्र का अनुभव ही राष्ट्रीयता की कुंजी है। इसी भावना से राष्ट्र–निर्माण के अंकुर उत्पन्न होते हैं।

यह भाव जब सशक्त रूप में जागता है तब राष्ट्र–निर्माण के स्वर वायुमण्डल में भरने लगते हैं। इस भाव के द्वारा ही मनुष्य पृथ्वी के साथ अपने सच्चे सम्बन्ध को प्राप्त करते हैं। जहाँ यह भाव नहीं है वहाँ जन और भूमि का सम्बन्ध अचेतन और जड़ बना रहता है। जिस समय भी जन का हृदय भूमि के साथ माता और पुत्र के सम्बन्ध को पहचानता है उसी क्षण आनन्द और श्रद्धा से भरा हुआ उसका प्रणाम–भाव मातृभूमि के लिए इस प्रकार प्रकट होता है–

नमो मात्रे पृथिव्यै। नमो मात्रे पृथिव्यै

माता पृथ्वी को प्रणाम है। माता पृथ्वी को प्रणाम है।

यह प्रणाम–भाव ही भूमि और जन का दृढ़ बन्धन है। इसी दृढ़ भित्ति पर राष्ट्र का भवन तैयार किया जाता है। इसी दृढ़ चट्टान पर राष्ट्र का चिर जीवन आश्रित रहता है। इसी मर्यादा को मानकर राष्ट्र के प्रति मनुष्यों के कर्त्तव्य और अधिकारों का उदय होता है। जो जन पृथ्वी के साथ माता और पुत्र के सम्बन्ध को स्वीकार करता है, उसे ही पृथ्वी के वरदानों में भाग पाने का अधिकार है। माता के प्रति अनुराग और सेवा–भाव पुत्र का स्वाभाविक कर्त्तव्य है। वह एक निष्कारण धर्म है। स्वार्थ के लिए पुत्र का माता के प्रति प्रेम, पुत्र के अधोपतन को सूचित करता है। जो जन मातृभूमि के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहता है उसे अपने कर्त्तव्यों के प्रति पहले ध्यान देना चाहिए।

माता अपने सब पुत्रों को समान भाव से चाहती है। इसी प्रकार पृथ्वी पर बसने वाले सब जन बराबर हैं। उनमें ऊँच और नीच का भाव नहीं है। जो मातृभूमि के हृदय के साथ जुड़ा हुआ है वह समान अधिकार का भागी है। पृथ्वी पर निवास करने वाले जन का विस्तार अनंत है–नगर और जनपद, पुर और गाँव, जंगल और पर्वत नाना प्रकार के जन से भरे हुए हैं। ये जन अनेक प्रकार की भाषाएँ बोलने वाले और अनेक धर्मों के मानने वाले हैं, फिर भी वे मातृभूमि के पुत्र हैं और इस कारण उनका सौहार्द भाव अखंड है। सभ्यता और रहन–सहन की दृष्टि से जन एक–दूसरे से आगे–पीछे हो सकते हैं, किन्तु इस कारण से मातृभूमि के साथ उनका जो सम्बन्ध है उसमें कोई भेद–भाव नहीं हो सकता। पृथ्वी के विशाल प्रांगण में सब जातियों के लिए समान क्षेत्र है। समन्वय के मार्ग से भरपूर प्रगति और उन्नति करने का सबको एक जैसा अधिकार है। किसी जन को पीछे छोड़कर राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता। अतएव राष्ट्र के प्रत्येक अंग की सुध हमें लेनी होगी। राष्ट्र के शरीर के एक भाग में यदि अंधकार और निर्बलता का निवास है तो समग्र राष्ट्र का स्वास्थ्य उतने अंश में असमर्थ रहेगा। इस प्रकार समग्र राष्ट्र जागरण और प्रगति की एक जैसी उदार

भावना से संचालित होना चाहिए।

जन का प्रवाह अनन्त होता है। सहस्रों वर्षों से भूमि के साथ राष्ट्रीय जन ने तादात्म्य प्राप्त किया है। जब तक सूर्य की रश्मियाँ नित्य प्रातःकाल भुवन को अमृत से भर देती हैं तब तक राष्ट्रीय जन का जीवन भी अमर है। इतिहास के अनेक उतार–चढ़ाव पार करने के बाद भी राष्ट्र–निवासी जन नई उठती लहरों से आगे बढने के लिए आज भी अजर–अमर हैं। जन का सतत्वाही जीवन नदी के प्रवाह की तरह है जिसमें कर्म और श्रम के द्वारा उत्थान के अनेक घाटों का निर्माण करना होता है।

संस्कृति

राष्ट्र का तीसरा अंग जन की संस्कृति है। मनुष्यों ने युग–युगों में जिस सभ्यता का निर्माण किया है वही उसके जीवन की श्वास–प्रश्वास है। बिना संस्कृति के जन की कल्पना कबन्धमात्र है, संस्कृति ही जन का मस्तिष्क है। संस्कृति के विकास और अभ्युदय के द्वारा ही राष्ट्र की वृद्धि सम्भव है। राष्ट्र के समग्र रूप में भूमि और जन के साथ–साथ जन की संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। यदि भूमि और जन अपनी संस्कृति से विरहित कर दिये जाएँ तो राष्ट्र–लोप समझना चाहिए। जीवन के विटप का पुष्प संस्कृति है। संस्कृति के सौन्दर्य और सौरभ में ही राष्ट्रीय जन के जीवन का सौन्दर्य और यश अन्तर्निहित है। ज्ञान और कर्म दोनों के पारस्परिक प्रकाश की संज्ञा संस्कृति है। भूमि पर बसने वाले जन ने ज्ञान के क्षेत्र में जो सोचा है और कर्म के क्षेत्र में जो रचा है, इन दोनों के रूप में हमें राष्ट्रीय संस्कृति के दर्शन मिलते हैं। जीवन के विकास की युक्ति ही संस्कृति के रूप में प्रकट होती है। प्रत्येक जाति अपनी–अपनी विशेषताओं के साथ इस युक्ति को निश्चित करती है और उससे प्रेरित संस्कृति का विकास करती है। इस दृष्टि से प्रत्येक जन की अपनी–अपनी भावना के अनुसार पृथक–पृथक संस्कृतियाँ राष्ट्र में विकसित होती हैं, परन्तु उन सबका मूल आधार पारस्परिक सहिष्णुता और समन्वय पर निर्भर है।

जंगल में जिस प्रकार अनेक लता, वृक्ष और वनस्पति अपने अदम्य भाव से उठते हुए पारस्परिक सम्मिलन से अविरोधी स्थिति प्राप्त करते हैं उसी प्रकार राष्ट्रीय जन अपनी संस्कृतियों के द्वारा एक–दूसरे के साथ मिलकर राष्ट्र में रहते हैं। जिस प्रकार जल के अनेक प्रवाह नदियों के रूप में मिलकर समुद्र में एकरूपता प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन की अनेक विधियाँ राष्ट्रीय संस्कृति में समन्वय प्राप्त करती हैं समन्वययुक्त जीवन ही राष्ट्र का सुखदायी रूप है।

साहित्य, कला, नृत्य, गीत, आमोद–प्रमोद अनेक रूपों में राष्ट्रीय जन अपने–अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। आत्मा का जो विश्व–व्यापी आनन्द भाव है वह इन विविध रूपों से साकार होता है। यद्यपि बाह्य रूप की दृष्टि से संस्कृति के ये बाहरी लक्षण अनेक दिखाई पड़ते हैं किन्तु आंतरिक आनन्द की दृष्टि से उनमें एकसूत्रता है। जो व्यक्ति सहृदय है, वह प्रत्येक संस्कृति के आनंद–पक्ष को स्वीकार करता है और उससे आनन्दित होता है। इस प्रकार की उदार भावना ही विविध जनों से बने हुए राष्ट्र के लिए स्वास्थ्यकर है।

गाँवों और जंगलों में स्वच्छन्द जन्म लेने वाले लोकगीतों में, तारों के नीचे विकसित लोक–कथाओं में संस्कृति का अमित भण्डार भरा हुआ है, जहाँ से आनन्द की भरपूर मात्रा प्राप्त हो सकती है। राष्ट्रीय संस्कृति के परिचय–काल में उन सबका स्वागत करने की आवश्यकता है।

पूर्वजों ने चरित्र और धर्म–विज्ञान, साहित्य–कला और संस्कृति के क्षेत्र में जो कुछ भी पराक्रम किया है उस सारे विस्तार को हम गौरव के साथ धारण करते हैं और उसके तेज को अपने भावी जीवन में साक्षात् देखना चाहते हैं। यही राष्ट्र–संवर्धन का स्वाभाविक प्रकार है। जहाँ अतीत वर्तमान के लिये भाररूप नहीं है, जहाँ भूत वर्तमान को जकड़ रखना नहीं चाहता वरन् अपने वरदान से पुष्ट करके उसे आगे बढ़ाना चाहता है, उस राष्ट्र का हम स्वागत करते हैं।

शब्दार्थ –

निर्मूल – जड़ रहित, आधारहीन
पार्थिव – पृथ्वी सम्बन्धी, सांसारिक
परिवर्धित – अच्छी तरह बढ़ाया हुआ
अभ्युदय – उन्नति, उत्थान
नग – पर्वत
तादात्म्य–अभेद मिश्रण या सम्बन्ध, अभिन्नता
कबन्ध – धड़
विटप – वृक्ष
सौरभ – सुगन्ध
ध्येय –ध्यान देने योग्य उद्देश्य
समन्वय – तालमेल
भित्ति – दीवार
अदम्य – जिसका दमन न हो सके

अभ्यास प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सच्चे अर्थों में सम्पूर्ण राष्ट्रीय विचार धाराओं की जननी कौन है ?
   (अ) पृथ्वी (ब) संस्कृति
   (स) जन (द) राष्ट्र ( )
2. जन का मस्तिष्क है ?
   (अ) नदी (ब) पर्वत
   (स) राष्ट्र (द) संस्कृति ( )
3. संस्कृति का अमित भण्डार भरा हुआ है –
   (अ) लोकगीतों व लोककथाओं में (ब) प्राकृतिक सौन्दर्य में
   (स) जन–मानस में (द) धर्म व विज्ञान में ( )

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पृथ्वी वसुन्धरा क्यों कहलाती है ?
2. जागरणशील राष्ट्र के लिए आनन्दप्रद कर्त्तव्य किसे माना है ?
3. सैंकड़ों वर्षों से शून्य और अन्धकार भरे जीवन के क्षेत्रों में उजाला कब दिखाई देगा ?

4. राष्ट्र की वृद्धि कैसे संभव है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मेघ हमारे अध्ययन की परिधि में क्यों आने चाहिएं?
2. हमारी राष्ट्रीयता बलवती कैसे हो सकेगी?
3. पृथ्वी के वरदानों में भाग पाने का अधिकार किसे व क्यों है ?
4. ''जीवन के विटप का पुष्प संस्कृति है'' से क्या अभिप्राय है ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. ''राष्ट्रीयता की जड़ें पृथ्वी में जितनी गहरी होंगी, उतना ही राष्ट्रीय भावों का अंकुर पल्लवित होगा'', के आधार पर राष्ट्रीयता के विकास में जन के भूमि के प्रति क्या कर्त्तव्य हैं ?
2. ''पृथक–पृथक संस्कृतियाँ राष्ट्र में विकसित होती हैं, परन्तु उन सबका मूल आधार पारस्परिक सहिष्णुता और समन्वय पर निर्भर है'' के आधार पर भारतीय संस्कृति की विशेषताएं बताइए ?
3. राष्ट्र के स्वरूप की विवेचना कर उसके प्रमुख तत्वों को समझाइए ?